03_yogesh_Layout 1 5/1/2014 3:23 PM Page 37



## संवाद

# बाज़ारू शोध बन कर रह गयी है सेफ़ोलॉजी

चुनाव, सेफ़ोलॉजी और समाजशास्त्र-2

**योगेश अटल** नरेश गोस्वामी

*आधुनिक भारतीय समाज एक तरह से चुनावमय समाज है। निचले से निचले स्तर से लेकर ऊँचे से ऊँचे स्तर तक चुनाव होते रहते हैं। पूरा राष्ट्रीय सामाजिक जीवन चुनाव के ज़रिये संसाधित होता है और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी काफ़ी हद तक चुनाव के ज़रिये ही चलती है। इस तरह चुनाव और समाज के विकास में सीधा रिश्ता नज़र आता है। फिर भी हमारे यहाँ चुनाव का समाजशास्त्र विधिवत विकसित नहीं किया गया है। इसका इतिहास बहुत कमज़ोर है और वर्तमान तक़रीबन नदारद। आख़िर हमारे समाजशास्त्री इस ओर क्यों ध्यान नहीं देते?*

**योगेश अटल :** अन्य समाज-विज्ञानों की भाँति समाज-शास्त्र भी भारत में एक आयातित विज्ञान है। भारत-भूमि में इसका प्रवेश अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में बहुत पुराना नहीं है। भारतीय विश्वविद्यालयों में इसका पाठन-पठन अन्य विषयों के उपांग के तौर पर हुआ। इसके उदय के दो केंद्र रहे— लखनऊ और मुम्बई। लखनऊ में यह विषय अर्थशास्त्र के मार्ग से भीतर घुसा, और मुम्बई में भारत-विद्या या इंडोलॉजी (भारत-विद्या) के मार्ग से इसकी प्रविष्टि हुई। कलकत्ता में मानवशास्त्र के अध्यापन के माध्यम से समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की पुष्टि हुई। यह इतिहास बताता है कि समाजशास्त्र के प्रारम्भिक छात्रों को एक ओर तो समाजशास्त्रीय सोच और दर्शन की जानकारी मिली, तो दूसरी ओर उस समय की प्रचलित विचारधाराओं मार्क्सवाद और पूँजीवाद से भी उनका परिचय हुआ। आग्रह यह भी रहा कि छात्रों को भारतीय समाज की जानकारी मिले। इस कारण से

03_yogesh_Layout 1 5/1/2014 3:23 PM Page 38



प्रारम्भ में दीक्षित हुए छात्र एक ओर तो उभरते हुए समाजशास्त्रीय सिद्धांतों और विचार-सम्प्रदायों से परिचित हुए, तो दूसरी ओर पौराणिक भारत से। उस समय भारतीय समाज के जो चित्रण प्रस्तुत किये गये वे प्राचीन ग्रंथों में वर्णित या फिर समृतियों में वांछित के रूप में प्रस्तावित व्यवहारों पर आधारित थे। विदेशी विद्वानों द्वारा तैयार किये गये भारतीय समाज के चित्रण भी समाजशास्त्रीय माने गये। अधिकांश अनुसंधान भारत-विद्या की दिशा में होने लगी।

वर्तमान के वस्तुपरक अध्ययन की परम्परा मानवशास्त्रीय अध्ययनों से प्रारम्भ हो कर और देश की आदिवासी जातियों के अध्ययन की बढ़ी। इस दिशा में लखनऊ और कलकत्ता ने पहल ली। इसके विपरीत मुम्बई के स्नातक नगर-अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए। कुछ ऐसा हुआ कि समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के बीच शोध-पद्धति के आधार पर अंतर किया जाने लगा। सेम्पल सर्वे और प्रश्नावली

रजनी कोठारी विकासशील समाजों के अध्ययन का केंद्र स्थापित कर राजनीतिक समाजशास्त्र के कर्णधार हो गये। राजनीतिशास्त्र को लौकिक शोध की ओर प्रेरित करने का सारा श्रेय रजनी कोठारी को ही जाता है। और यह शोध मुख्यतः चुनावों से जुड़ी थी।

का उपयोग समाजशास्त्रीय शोध का पर्याय बन गया और सहभागी प्रेक्षण मानवशास्त्रीय की विशेषता।

इस देश में समाजशास्त्र का उदयकाल उपनिवेशवाद से मुक्ति के साथ जुड़ा है। राजनीतिशास्त्र की उपज इतिहास और दर्शन के माध्यम से हुई, और इसमें भी पुस्तकीय परम्परा ही पल्लवित होती रही। राजनीतिशास्त्र में भी क्षेत्र-प्रेक्षण की परम्परा नहीं थी।

वस्तुपरक क्षेत्रीय शोध का प्रारम्भ इस देश में एक प्रकार से स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् ही हुआ। स्वतंत्रता मिलने के बाद देश का सारा ध्यान विकास की ओर अकृष्ट हुआ और इस महायज्ञ में सम्मिलित होने के निमित्त समाज-विज्ञानों को भी आमंत्रित किया गया। उस समय समाज-वैज्ञानिकों की संख्या सीमित थी। समाजशास्त्र और मानवशास्त्र बारह-पंद्रह विश्वविद्यालयों में ही पढ़ाया जाता था। इन विषयों के स्नातकों को सिद्धांत-बोध तो था, शोध-पद्धतियों से भी वे अवगत थे, किंतु शोध के ऐसे कोई परिणाम उपलब्ध नहीं थे जिनका योजनाकार तत्काल लाभ उठा सके। सिद्धांतों का ज्ञान था, पर तथ्यों की आपूर्ति नहीं थी।

कहने का अर्थ यह है कि विकास की चुनौतियों ने ही समाज-विज्ञानों को क्षेत्र-शोध (फ़ील्ड वर्क आधारित) के लिए प्रेरित किया। 1952 में भारत सरकार ने सामुदायिक विकास कार्यक्रम की विशाल महत्त्वाकांक्षी योजना प्रारम्भ किया ताकि ग्रामीण विकास को बल मिल सके। इस अभियान में मानवशास्त्री श्यामाचरण दुबे और राजनीतिशास्त्री रजनी कोठारी जुड़ गये। दोनों ने मिलकर विश्वविद्यालयों में काम कर रहे समाज-वैज्ञानिकों को सामुदायिक विकास कार्यक्रम से जुड़े विषयों पर शोध करने के लिए प्रेरित किया। उन्हीं दिनों चीन-भारत युद्ध भी हुआ और इस युद्ध के विषय में लोगों की समझ और राय जानने के लिए पहली बार एक अखिल भारतीय सर्वेक्षण दुबे और कोठारी के नेतृत्त्व में प्रारम्भ हुआ। मैं भारत में राजनीतिक समाजशास्त्र की शुरुआत यहीं से मानता हूँ। दुबे समाजशास्त्री थे तो रजनी राजनीतिशास्त्री; दोनों ने मिलकर राजनीतिक समाजशास्त्र की इस देश में

03_yogesh_Layout 1 5/1/2014 3:23 PM Page 39



नींव डाली। कालांतर में दुबे विकास से जुड़े प्रश्नों पर ही कार्य करते हुए लोगों को प्रेरित करते रहे। इधर रजनी कोठारी विकासशील समाजों के अध्ययन का केंद्र स्थापित कर राजनीतिक समाजशास्त्र के कर्णधार हो गये। राजनीतिशास्त्र को लौकिक शोध की ओर प्रेरित करने का सारा श्रेय रजनी कोठारी को ही जाता है। और यह शोध मुख्यत: चुनावों से जुड़ी थी। इससे पहले एम्पिरिकल रिसर्च के नाम से राजनीतिशास्त्र और लोक-प्रशासन के अध्येता पंचायतों और पालिकाओं का अध्ययन करते रहे थे पर वे पुरानी परिपाटी के थे, बिहेवियरल (व्यवहारगत) विज्ञान की कोटि के नहीं।

अब मैं समाजशास्त्र पर आता हूँ।

भारत में समाजशास्त्रीय अनुसंधान मोटे रूप में बहुमुखी नहीं रही है। एक समय था जब अधिकतर शोध भारत-विद्या के दायरे में थी। फिर ग्रामीण और नागर शोध होने लगी। इन शोधों से

साक्षरता, नगरीकरण, संचार-सम्प्रेषण एवं, राजनीतिक सहभागिता को आधुनिकता के संकेतक के रूप में चुना गया। राजनीतिक सहभागिता का एक मापदण्ड चुनावों में भागीदारी गिना गया। इस प्रकार की सम्बोधीय (अवधारणात्मक) परिभाषा के कारण चुनावों का अध्ययन समाज-विज्ञानों में होने लगा।

जुड़े आधुनिकीकरण के प्रश्नों ने समाजशास्त्रियों को आकर्षित किया और इस प्रक्रिया के अंगों के रूप में नगरीकरण और पाश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं पर शोध की जाने लगी। इसमें सहायक हुआ यह तथ्य कि भारत सरकार ने सामुदायिक विकास योजना की महती मुहिम पर शनै: शनै: महत्त्व कम करना प्रारम्भ कर दिया।

साक्षरता, नगरीकरण, संचार-सम्प्रेषण एवं, राजनीतिक सहभागिता को आधुनिकता के संकेतक के रूप में चुना गया। राजनीतिक सहभागिता का एक मापदण्ड चुनावों में भागीदारी गिना गया। इस प्रकार की सम्बोधीय (अवधारणात्मक) परिभाषा के कारण चुनावों का अध्ययन समाज-विज्ञानों में होने लगा। मोटे रूप में राजनीतिशास्त्री मेक्रो-स्तर (देशव्यापी) पर चुनावी आँकड़ों के आकलन और विश्लेषण की ओर प्रवृत्त हुए, मनोविज्ञान के शोधकर्त्ताओं ने संचार-सम्प्रेषण और मतदान-व्यवहार पर ध्यान दिया, और समाजशास्त्रियों-मानवशास्त्रियों ने चुनावों को एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में देख कर मतदान व्यवहार को सामाजिक चरों के संदर्भ में देखने की चेष्टा की। गाँवों और शहरों में सर्वे-पद्धति का उपयोग करने वाले समाजशास्त्रियों ने विभिन्न स्तरों के चुनावों का अध्ययन प्राप्त किया।

जिसे चुनाव का समाजशास्त्र कहा जाता है, दरअसल उसे राजनीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, और समाजशास्त्र-मानवशास्त्र के अंतर-अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य की देन माना जाना चाहिए।

इस दृष्टि से 1967 के चुनाव, जो भारतीय प्रजातंत्र के चौथे चुनाव थे, बड़े महत्त्व के हैं। इससे पहले गेलप पॉल की तर्ज़ पर डीकोस्टा की संस्था इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ़ पब्लिक ओपीनियन (आईआईपीओ) राष्ट्रीय स्तर पर सेम्पल सर्वे करवाने लगी थी। पर 1967 से पहले के चुनावों की ओर समाज-वैज्ञानिकों का अधिक ध्यान नहीं गया। इसके दो कारण थे : (1) समाज-वैज्ञानिक

03_yogesh_Layout 1 5/1/2014 3:23 PM Page 40



भारतीय ग्रामों में होने वाले नियोजित परिवर्तनों के अध्ययन में जुटे थे, और (2) प्रारम्भिक वर्षों के चुनावों में प्रतियोगिता की संरचना रोचक नहीं थी। यह माना जाता रहा कि मतदान तो मात्र एक औपचारिकता है, जीतेगी तो कांग्रेस ही। 16 से 25 प्रतिशत साक्षरता वाले 1952-1962 के भारत में मतदान का ऊँचा प्रतिशत यही सिद्ध करता था कि अपढ़ लोगों के समर्थन से कांग्रेस सत्तारूढ़ होगी। वह 'एक दल महाप्रबल' का काल था। उन चुनावों ने पश्चिम की इस मान्यता को चुनौती दी कि साक्षरता प्रजातंत्र की एक पूर्व-आवश्यकता है।

1967 आते-आते स्थिति बदली : राजनीति में अन्य दलों की सक्रियता बढ़ी, साक्षरों का प्रतिशत भी बढ़ा, और समाज-विज्ञान की शोध पद्धतियों के परिष्कार से नयी शोध की सम्भावनाएँ भी उभरी। चुनावों के अध्ययन के लिए योजना आयोग की शोध-कार्यक्रमों की समिति ने समुचित राशि का प्रावधान भी रखा। परिणामतः उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, दिल्ली आदि स्थानों पर इन चुनावों के अध्ययन (क्षेत्र-आधारित) किये गये। इन अध्ययनों की एक विशेषता यह रही कि योजना आयोग ने इन शोध-योजनाओं के निदेशकों की मीटिंग की जिसमें ऐसे प्रश्नों को चुना गया जो सभी जगह पूछे जा सकें। इस कारण इन विभिन्न शोधों की परस्पर तुलना में काफ़ी सहायता मिली। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि ये अध्ययन न केवल राजनीतिशास्त्रियों ने किये वरन् समाजशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिकों ने भी इनमें भाग लिया। समाजशास्त्र की ओर से मेरी भागीदारी रही और मैंने यह अध्ययन उत्तर प्रदेश के एटा ज़िले में किया। यद्यपि पुणे विश्वविद्यालय के राजनीतिशास्त्री वी.एम. सिरसीकर ने पेनल स्टडी की पद्धति अपनायी पर वह सही अर्थों में पेनल स्टडी नहीं थी क्योंकि उन्हीं उत्तरदाताओं से समयातंर में प्रश्न नहीं पूछे गये। मेरे एटा के अध्ययन में इस बात का ध्यान रखा गया कि उन्हीं उत्तरदाताओं से चुनाव से पहले दो बार और चुनाव समाप्ति पर एक बार प्रश्न पूछे जाएँ ताकि यह जाना जा सके कि उनमें से कौन अपनी राय बदलते रहे और कौन अपनी राय पर अडिग रहे। दोनों ही प्रकार के व्यक्तियों के सामाजिक चरों की स्थिति की तुलना भी की गयी।

1967 के चुनावों के इन विभिन्न अध्ययनों पर आधारित लेख तो शोध पत्रिकाओं और संकलित पुस्तकों में प्रकाशित हुए, पर पुस्तकाकार रिपोर्ट केवल मेरे अध्ययन की ही नैशनल पब्लिशिंग हाउस से *लोकल कम्युनिटीज़ ऐंड नैशनल पॉलिटिक्स* प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में प्रयुक्तशोध पद्धति, और इसके लिए तैयार किये गये सूचकांक, ख़ासकर सेंस ऑफ़ पॉलिटिकल ऐफ़ीकेसी इंडेक्स (एसपीसी) की सराहना की गयी और कई शोधार्थियों ने उसका प्रयोग भी किया। भारत के अतिरिक्ति बांग्लादेश और फ़िलीपींस के पाठ्यक्रमों में भी इसे स्थान मिला। इसी के कारण मुझे मिला लंदन विश्वविद्यालय से चतुर्थ महात्मा गाँधी स्मृति भाषण का निमंत्रण। प्रोफ़ेसर नार्मन डी. पामर ने अपनी पुस्तक *इलेक्शंस ऐंड पॉलिटिकल डिवेलपमेंट* में मेरी पुस्तक को 'ग्राउंड ब्रेकिंग स्टडी ऑफ़ इलेक्शंस ऐंड पॉलिटिकल डिवेलपमेंट' बताया।

हो सकता है बाद में चुनावों के कुछ अध्ययन समाजशास्त्र के क्षेत्र में हुए हो, पर भारतीय समाज-विज्ञान अनुसंधान परिषद के विषयगत के सर्वेक्षणों से तो यही पता चलता है कि इस दिशा में समाजशास्त्री आगे नहीं बढ़े। चुनाव का समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्रियों के पास चला गया। भारतीय समाजशास्त्र की यह विशेषता रही है कि किसी एक कालखण्ड में अधिकांश लोग एक ही विषय पर काम करते हैं। ग्रामीण विकास, आधुनिकीकरण, आदि पर काम करने के बाद समाजशास्त्र का भारत में रुझान सामाजिक आंदोलनों की ओर मुड़ गया। महिला समाजशास्त्री स्त्री-अध्ययन करने लगीं। आज के संदर्भ में क्षेत्र-शोध के रूप में पंचायती राज अभी भी अध्ययन का केंद्र है किंतु बिना शोध के चिंतन की दिशा में सभी पर वैश्वीकरण की प्रक्रिया हावी हो गयी है।

वैश्वीकरण के दुष्परिणामों की चर्चा तो होती है, पर इन आलोचनाओं का कोई तथ्यगत ठोस

03_yogesh_Layout 1 5/1/2014 3:23 PM Page 41



आधार नहीं है।

*चुनाव के संदर्भ में सोसियोलॅजी और सेफ़ोलॅजी के बीच फ़र्क़ कैसे रेखांकित किया जा सकता है? समाज-विज्ञान की दृष्टि से सेफ़ोलॅजी की सीमाएँ क्या-क्या हैं? सेफ़ोलॅजी से अलग हटते हुए इलेक्शन की सोसियोलॅजी के क्या-क्या मुक़ाम हैं? वे कौन-कौन सी रिसर्च टेक्नीक्स हैं जो इस सोसियोलॅजी के विकास में मददगार हो सकती हैं?*

जिस समय हम लोग चुनाव का अध्ययन कर रहे थे उस समय अमेरिका में मतदान व्यवहार या वोटिंग बिहेवियर की संज्ञा का प्रयोग होता था। सेफ़ोलॅजी शब्द का निर्माण 1952 में आर.बी. मेक्केलम ने किया था। वे इतिहासज्ञ थे और पिछले चुनावों का अध्ययन करने में लगे थे। बाद में इसकी परिभाषा 'चुनावों के वैज्ञानिक विश्लेषण' के रूप में की जाने लगी। सेफ़ोज यूनानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है कंकड़। यूनान में चुनाव के लिए बैलॅट पेपर की जगह कंकड़ काम में लिए जाते थे इसलिए कंकड़ गणनाशास्त्र अर्थात् सेफ़ोलॅजी का नामकरण हुआ। इसे हिंदी में चुनाव विश्लेषण-विज्ञान कहा जा सकता है। इस प्रकार यह एक नयी विधा, एक नयी शाखा के रूप में विकसित होने लगी जिसमें ध्यान मतदान-व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों से हट कर चुनाव के परिणामों पर जाने लगा। नतीजे के तौर पर चुनाव परिणामों की भविष्यवाणियाँ करने की पद्धतियों का विकास होने लगा। चुनाव में भाग लेने वाले दलों की स्वाभाविक रूप से इसमें रुचि जागृत हुई और समाज-वैज्ञानिकों ने

सेफ़ोज यूनानी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है कंकड़। यूनान में चुनाव के लिए बैलॅट पेपर की जगह कंकड़ काम में लिए जाते थे इसलिए कंकड़ गणनाशास्त्र अर्थात् सेफ़ोलॅजी का नामकरण हुआ। इसे हिंदी में चुनाव विश्लेषण-विज्ञान कहा जा सकता है।

भविष्य वक्ताओं या ज्योतिषियों की भूमिका अपनाना प्रारम्भ किया। चुनाव इस प्रकार बाज़ार-शोध का विषय बन गये और यह विज्ञान सिद्धांत-निर्माण के स्थान पर एप्लायड या प्रयुक्त-विज्ञान बनने लगा। होड़ यह होने लगी कि किसकी भविष्यवाणी सच निकलती है या फिर भविष्यवाणी के आधार पर चुनाव की चिंताधारा कैसे बदल जाती है।

चुनाव का समाजशास्त्र दरअसल भारत में चुनावों की भविष्यवाणी का शास्त्र होकर रह गया है। सामाजिक शोध के लिए अनुदान देने वाली संस्थाओं ने भी ऐसी शोध को प्राथमिकता देना लगभग बंद-सा कर दिया है। उनके स्थान पर राजनीतिक दल बाज़ारू शोध करने वाली संस्थाओं ने कुछ फ़ार्मूले ईज़ाद किये हैं जो अब तक समाज-विज्ञान की शोध पद्धतियों में नहीं पढ़ाए जाते हैं। शुल्क ले कर चुनाव नतीजों की घोषणा करने वाली इन संस्थाओं ने उन्हें गोपनीय सा बना रखा है। यही कारण है कि ओपीनियन पोल की विश्वासनीयता पर भी प्रश्न उठाए जाने लगे हैं।

जो पद्धति सबसे ज़्यादा ख्याति प्राप्त कर पायी है वह एग्ज़िट पोल की है। वोट देकर बाहर निकलने वाले मतदाओं से सवाल पूछा जाता है कि उन्होंने किसे मत दिया और इस आधार पर न केवल विभिन्न पार्टियों के उम्मीदवारों की जीत-हार का अंदाज़ा लगाया जाता है वरन् अन्य

03_yogesh_Layout 1 5/1/2014 3:23 PM Page 42



अटकलबाज़ियों से विधानसभा और लोकसभा में विभिन्न दलों की सीटों के बारे में भविष्यवाणियाँ भी की जाती हैं। अब यह पनपता हुआ चुनाव-ज्योतिष (जो समाज-विज्ञान से थोड़ा हट कर है) चुनाव प्रक्रिया का अंग हो चुका है। मैंने भी अपने 1967 के अध्ययन में एग्ज़िट पोल जैसी पद्धति को अपनाया जिससे यह शिक्षा मिली कि उसकी क्या सीमाएँ हैं।

इस भय से कि ऐसी भविष्यवाणियाँ बाद में होने वाले चुनावों को प्रभावित कर सकती है, चुनाव आयोग ने अब उन पर रोक लगा दी है। सभी चुनाव क्षेत्रों में चुनाव सम्पन्न होने के बाद ही उन्हें उजागर किया जाता है। ऐसी संस्थाओं में होड़ लगी रहती है कि किसकी भविष्यवाणी कितनी खरी उतरी। पर ऐसी भविष्यवाणियाँ अपने आप में वैज्ञानिक या समाज-वैज्ञानिक नहीं कही जा सकतीं। वे एक प्रकार से समाजवेत्ता को 'दलाल' बना देती है। कुछ तो इसे विषय की वेश्यावृत्ति तक कहने लगे हैं।

समाज-विज्ञान का पद्धतिशास्त्र भविष्यवाणी की सीमाओं को स्वीकार करता है। किंतु वह यह भी बताता है कि भविष्यवाणियाँ करने से पासे पलट भी सकते हैं, या फिर किसी पक्ष की पुष्टि भी

परिणामों से हट कर चुनाव की प्रक्रिया का अध्ययन अभी भी उतना ही अभीष्ट है। जाति की भूमिका, प्रभुत्वशाली जाति की अवधारणा और आधुनिकता के प्रवेश से व्यक्ति के व्यवहार में जो परिवर्तन आये हैं उनके संदर्भ में चुनाव-व्यवहार देखने की आज आवश्यकता है।

कर सकते हैं। चूँकि ये भविष्यवाणियाँ मानव-व्यवहार के संदर्भ में की जाती है— इसलिए मानव परिणामों से हट कर चुनाव की प्रक्रिया का अध्ययन अभी भी उतना ही अभीष्ट है। जाति की भूमिका, प्रभुत्वशाली जाति की अवधारणा और आधुनिकता के प्रवेश से व्यक्ति के व्यवहार में जो परिवर्तन आये हैं उनके संदर्भ में चुनाव-व्यवहार देखने की आज आवश्यकता है। जातिगत और समूह-प्रभावित मत-व्यवहार की अवधारणा का ठीक से परीक्षण करने की ज़रूरत है। अपने कृत्यों से उन्हें झुठला भी सकता है या फिर उचित क़दम उठा कर उन्हें सच भी बना सकता है। इसीलिए भविष्य-विज्ञान में कार्यरत लोग वांछित भविष्य की कल्पना और उसकी प्राप्ति के लिए कार्य-योजना में ज़्यादा रुचि लेते हैं। आगत भविष्य को अपरिहार्य, सम्भावी और वांछित की तीन बड़ी श्रेणियों में बाँटा जाने लगा है। राजनीतिक दल वोट हासिल करने के लिए जाति या वर्ग के नाम पर लोगों में एकता करने का प्रयास कर सकते हैं पर यह आवश्यक नहीं कि ऐसी एकता स्थापित हो। मुसलमान-बहुल, या विशेष जाति-बहुल चुनाव-क्षेत्र से हो सकता है कि जीतने वाला व्यक्ति मुसलमान या जाति-विशेष का ही हो, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि जाति और धर्म की उस क्षेत्र में निर्णायक भूमिका ही रही है। यदि उस क्षेत्र से खड़े होने वाले सभी प्रत्याशी उसी जाति-विशेष या धर्म विशेष से हों तो ज़ाहिर है कि जीतने वाला उसी धर्म या जाति का होगा। पर ऐसा होते हुए भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि जब एक ही जाति या धर्म विशेष से कई प्रत्याशी विभिन्न दलों द्वारा खड़े किये जाते हैं तो वे उस वर्ग विशेष के मतदाताओं की एकता को खण्डित करते हैं और अन्य जातियों के लोगों से प्रत्येक प्रत्याशी वोट की याचना करता है। यह भी हो सकता है कि किसी एक जाति का बाहुल्य होते हुए भी अन्य जाति का व्यक्ति उस क्षेत्र से जीत जाए। आंध्र प्रदेश की जयाप्रदा उत्तर प्रदेश के मुसलिम-बहुल

चुनाव क्षेत्र से जब जीतती है तो वह चुनाव-परिणाम प्रभुत्वशाली जाति की धारणा प्रबलता से खण्डित करता है। दुर्भाग्य से मीडिया और चुनावी विश्लेषक इस तथ्य को उजागर नहीं करते।

प्रसन्नता है तो यह है कि समाजशास्त्रीय शब्दावली और समाज-वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग चुनावों के अध्ययन में होने लगा है और कई सम्बोध आम आदमी की बोली में भी प्रवेश कर गये हैं। ऐसा तब नहीं था जब समाजशास्त्री चुनावों के अध्ययन में पहली बार लगे थे। इस क्षेत्र में उनकी रुचि भले ही कम हो गयी हो, उनकी शब्दावली अवश्य सामाजिक होती जा रही है।

*कहा जाता है कि भारत में एक नये मध्यवर्ग का उभार हुआ है जो भारतीय जनता की भूमण्डलीय आकांक्षाओं का वाहक माना जाता है। क्या अपने वोट डालते समय इस वर्ग के सदस्य वर्गीय आचरण करते हैं या फिर ये लोग मतदाता के रूप में जातिगत निष्ठाओं को ही प्राथमिकता देते हैं?*

जैसा मैंने अभी कहा कि जातिगत निष्ठा से वोट डालने की धारणा अधिकांशतः मिथ्या है। ऐसा विगत

चुनावी राजनीति का ग्रामीण और शहरी समुदायों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता होता है। ... बढ़ते हुए नगरीकरण, आव्रजन-प्रव्रजन और पलायन के कारण न केवल ग्रामीण जनसंख्या में उत्तरोत्तर कमी आ रही है, वरन् उनकी संस्कृति में भी नागरतत्त्व सम्मिलित होते जा रहे हैं।

में भी था और आज भी है। विगत में पैसे दे कर, शराब पिला कर, या दबंगों की धमकी से वोट बटोरे जाते थे। अशिक्षित मतदाता के लिए तो 'कोऊ मृप होउ हमें का हानि' का मंत्र था। शुरू के तीन चुनावों में तो विकल्प ही नहीं था। बाद में भी चुनाव के प्रत्याशियों की संख्या राजनीतिक दलों की संख्या के अनुकूल होती थी। जातियाँ तो उनकी तुलना में कहीं अधिक थीं, जो आज भी है। मतदाता मत उसी को देता है जो चुनाव में खड़ा होता है। यदि किसी जाति का व्यक्ति चुनाव ही नहीं लड़ता तो उसकी जाति के मतदाताओं को अन्य जातियों के उम्मीदवारों में से ही किसी का चुनाव करना पड़ता है। और ऐसा करते समय जाति की पंचायत कोई विप या आदेश जारी नहीं करती। जाति को पुनर्जीवित करने का कार्य राजनीतिक दल कर रहे हैं और ऐसा करते समय वे सही रूप में छोटी संख्या में क्रियाशील समूह के स्थान पर एक नयी राजनीतिक जाति पैदा कर रहे हैं जो संख्या में बहुल हो और वर्ण-तुल्य हो। राजनीतिक प्रतियोगिता इस प्रकार जाति की धारणा को तो ऊँचे स्तर पर पुष्ट कर एक ओर तो नयी चेतना जगा रही है तो दूसरी ओर क्षेत्र स्तर पर जीवंत जाति की उपेक्षा भी कर रही है। दुर्भाग्य है कि चुनाव प्रभावित राजनीति के प्रपंच से यह जो सामाजिक परिवर्तन हो रहा है उसका अध्ययन नहीं किया जा रहा है।

*क्या चुनावी राजनीति ग्रामीण समुदाय और शहरी समुदाय पर अलग-अलग असर डालती है?*

मैं इससे सहमत हूँ कि चुनावी राजनीति का ग्रामीण और शहरी समुदायों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता होता है। साथ में मैं यह भी जोड़ना चाहूँगा कि यह प्रभाव विभिन्न क्षेत्रों-प्रदेशों की राजनीति

03_yogesh_Layout 1 5/1/2014 3:23 PM Page 44



से भी प्रभावित होता है। तेज़ी से बढ़ते हुए नगरीकरण, आव्रजन-प्रव्रजन और पलायन के कारण न केवल ग्रामीण जनसंख्या में उत्तरोत्तर कमी आ रही है, वरन् उनकी संस्कृति में भी नागरतत्त्व सम्मिलित होते जा रहे हैं।

*क्या चुनाव की कोई समष्टिगत (मैक्रो) सोसियोलॅजी सम्भव है? क्या ऐसी कोई सोसियोलॅजी हो सकती है जो दक्षिण भारत की परिस्थितियों पर भी उतनी ही फ़िट बैठती हो जितनी उत्तर या पूर्वी और पश्चिमी भारत पर? या भारत में चुनाव की सोसियोलॅजी मुख्य रूप से व्यष्टिगत (माइक्रो) ही होगी यानी अलग-अलग राजनीतिक क्षेत्रों की सोसियोलॅजी अलग-अलग करनी होगी?*

यह सम्भव है। किंतु शोध की प्रक्रिया भिन्न है। हमारे यहाँ चुनावों के अध्ययन क्षेत्रीय या माइक्रो या व्यष्टिगत हुए हैं। कुछ विद्वानों ने चुनाव परिणामों की सांख्यिकी का विश्लेषण किया है। मेरी भाँति कुछ अन्य विद्वानों ने भी कुछ अवधारणाएँ प्रस्तावित की हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इन सब अध्ययनों को ध्यानपूर्वक पढ़ा जाए, तुलनात्मक पद्धति अपनाई जाए और सार्वभौम सत्यों का आकलन किया जाए। दुर्भाग्य से ऐसा कम होता है। भारत में तो इतनी गुटबंदी है कि लोग बाहर के विद्वानों की पुस्तकों का तो उल्लेख करेंगे, उन्हें उद्धृत भी करेंगे, पर अपने ही देश के लोगों के अच्छे अध्ययनों का हवाला तक नहीं देंगे। उद्धरण देते हैं तो समझते हैं जैसे कोई उपकार कर रहे हों। आप स्वयं ही देख लीजिये— मेरी पुस्तक का कितनी बार उल्लेख हुआ है। हो सकता है मेरा काम निकृष्ट हो। यदि ऐसा है तो उसकी आलोचना तो करो। उल्लेख करने को टैबू क्यों बनाते हो। हमारे यहाँ उन लेखकों का पुस्तक सूची में नाम दिया जाता है जो पद-धारी हो, जिससे कुछ लाभ मिलने की उम्मीद हो। बिना कोटेशन मार्क दिये अन्य लोगों के लेखन को अपना गद्य कहने की चौर्य कला भी इस देश में व्याप्त है। पूरे के पूरे पुराने पीएचडी के थीसिस नये पन्नों पर छाप दिये जाते हैं और उन चोरी किये हुए प्रबंधों पर विश्वविद्यालय डिग्रियाँ तक बाँट रहे हैं। ऐसे में विषय के विकास पर प्रश्न चिह्न खड़े किये जा सकते हैं। बीते वर्षों में शोधकर्त्ताओं की संख्या में भारी वृद्धि हुई है, सम्भवतः शोध-लेखन की मात्रा भी बढ़ी है, पर गुणात्मक दृष्टि से शोध में बड़ा ह्रास आया है। यह चिंता की बात है।

*राजनीतिक समुदाय और सामाजिक समुदाय में क्या फ़र्क़ है? क्या मुसलमान, दलित या यादव एक राजनीतिक समुदाय हैं? क्या राजनीतिक समुदाय केवल मतदाता मण्डल की ही तरह आचरण करता है, और इसके इतर उसका कोई वजूद नहीं होता?*

इनमें अंतर है भी और नहीं भी। आदिवासी समाजों का अध्ययन करते समय कुछ शोधार्थी ऐसे समाजों में पहुँच गये जहाँ नेतृत्त्व का अभाव था। उन्होंने ऐसे समाजों को शीर्षहीन समाज की संज्ञा दी। राजनीति का सीधा संबंध शासन से है। ज्यों-ज्यों समाज बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों उसके प्रबंधन की समस्या भी बढ़ती जाती है। उसे एक साथ दो प्रकार की चुनौतियाँ झेलनी पड़ती हैं— एक तो बाहरी आक्रमण की और दूसरी भीतरी अशांति की। बाहर के आक्रमण से सुरक्षित रहने के लिए आंतरिक एकता बड़ी आवश्यक होती है ताकि आक्रांता को भीतर आने से रोका जा सके। अन्य समाजों के साथ हितकारी संबंध बनाए रखने और अपनी स्वायत्तता यथावत रखने के लिए भी समाज में राजनीतिक नेतृत्त्व की आवश्यकता होती है। सामाजिक समुदाय का सम्बोध इससे भिन्न है। एक ही राजनीतिक छात्र के नीचे कई धर्मों के लोग, या विभिन्न स्थानों से आकर बसे प्रवासी लोग सामाजिक दृष्टि से अपनी अलग पहचान बनाए रख सकते हैं यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से उनका देश के प्रति समर्पण आवश्यक होता है। प्रवासियों में पनपती सामुदायिक भावना और अपनी भिन्न पहचान की जीवन शैली को मैंने *संधिवीची संस्कृति अर्थात् की संज्ञा* दी है। इस सम्बोध का उपयोग अब

डायस्पोरा के अध्ययनों में किया जाने लगा है— भारत में भी और बाहर भी।

इस दृष्टि से मुसलमान, यादव आदि को मैं राजनीतिक समुदाय की संज्ञा नहीं देना चाहूँगा। राजनीतिक दल, उनकी जन्म-जनित पहचान का लाभ उठाकर उन्हें राजनीति में घसीटने की चेष्टा अवश्य कर रहे हैं, पर इनमें से कोई भी समाज एक राजनीतिक दल के समरूप नहीं है। अपने हित-साधन के लिए बाहरी प्रभाव एक सीमित दायरे में उनकी राजनीतिक पहचान स्थापित करने में अवश्य लगे हैं। इस दृष्टि से दलित एक आरोपित संज्ञा है। जन्म से भिन्न, कर्म से भिन्न अलग-अलग भौगोलिक क्षेत्रों से आये लोगों को 'दलित' के नये दायरे में बाँधने का प्रयास अंग्रेज़ों की कूटनीति की विरासत है। 1921 की जनगणना में अंग्रेज़ों ने 'ऑप्रेस्ड' शब्द गढ़ा और उनमें एक भिन्न पहचान बनाने की चेष्टा ठीक वैसे ही की गयी जैसे सिखों, जैनों और बौद्ध धर्म के अनुयायियों को हिंदुओं से अलग करके दिखाया गया। यह ध्यान रखने योग्य है कि भारत में जितने भी दंगे हुए उन्हें हिंदू-मुसलमान दंगे ही कहा गया और इसी आधार पर दो राष्ट्रों की परिकल्पना का षड्यंत्र रचा गया। अंग्रेज़ों की उस चाल की गिरफ़्त में हम आज भी हैं। अधिकांश बुद्धिजीवी भी इस जाल की लपेट में हैं। ये प्रयास भारतीय समाज की जटिलता को जटिलतर बना रहे हैं। मैं नहीं मानता कि बिखराव की यह मानसिकता लोगों को मतदाता मण्डल में घसीटती है। वर्षों से हिंदुत्व के आधार पर भाजपा से किनारा करने वाले तथाकथित नेता आज उसमें भी शामिल होने लगे हैं। बहुजन समाज पार्टी जो कभी 'तिलक, तराजू, और तलवार' को चार जूते मारने का नारा लगाती थी आज ब्राह्मण वर्ण की जातियों के साथ भी सम्पर्क साध रही है। जहाँ राजनीति ने मरणशील जाति को वर्ण या उपवर्ण के स्तर पर ला कर जीवनदान देने की चेष्टा करती ही है, वहीं सामाजिक संबंधों के क्षेत्र में सही अर्थों में जाति कहे जाने वाले समूह अंतर्जातीय संबंधों के सूत्रों में अधिकाधिक जुड़ते रहे। राजनीति ने जाति को जीवनदान देने की चेष्टा की तो आधुनिकीकरण ने उसकी श्रद्धांजलि के मंत्र रचे।

*वोट बैंक एक समाजशास्त्रीय अवधारणा है, लेकिन आजकल इसका इस्तेमाल ख़ासे ढीले-ढाले ढंग से पत्रकारों और सेफ़ोलोजिस्टों द्वारा किया जाता है। क्या भारत में वोट बैंक पॉलिटिक्स वास्तव में होती है?*

मैंने पहले भी कहा कि वोट बैंक की अवधारणा समाजशास्त्री श्रीनिवास ने अपने अध्ययन के दौरान मैसूर के एक गाँव रामपुरा (छद्म नाम) की स्थिति के संदर्भ में प्रस्तुत की थी। उनके इस छोटे से लेख पर कई टिप्पणियाँ लिखी गयीं जो अधिकांशत: 'गुरु की स्तुति' के रूप में थीं। मध्य प्रदेश, राजस्थान और कुछ अन्य स्थलों के ग्राम-अध्ययनों के आधार पर इस सम्बोध की उपयोगिता पर श्यामाचरण दुबे, टी.के. उम्मन और मैंने प्रश्न उठाए। मेरी पुस्तक द *चेंजिंग फ्रंटियर्स ऑफ़ कास्ट* में पूरा एक अध्याय इस सम्बोध को समर्पित है। लेकिन, एक अमेरिकी शोध पत्रिका में प्रकाशित श्रीनिवास का यह सम्बोध-विवेचन अमेरिकियों ने और कई भारतीय समाज-वैज्ञानिकों ने उपयोगी माना और यह आम आदमी की भाषा में घर करते हुए राजनीतिक दलों के भी गले उतर गया? इस सम्बोध के प्रकाश में चुनाव परिणामों का विश्लेषण होने लगा। उस नक़्क़ारख़ाने में हमारी प्रतिक्रिया तूती बन कर रह गयी।

मेरा यह मानना है कि विश्लेषण की दृष्टि से अभिप्रेत और परिणाम में भेद करना आवश्यक है। राजनीतिक दल अपना समर्थन जुटाने के लिए भले ही जाति को महत्ता प्रदान करें और 'सेकुलर' की डींग हाँकते हुए भी जाति के नाम पर वोट बटोरने का प्रयास करें— पर जाति उन्हें अनुग्रहीत करेगी या नहीं यह परिस्थिति पर निर्भर करता है। आज भी जाति के सदस्यों की बहुलता के आधार पर सभी पार्टियाँ प्रत्याशी खड़ी करती हैं— यह वोट बैंक की राजनीति है। पर निरंतर शिक्षित होता हुआ समाज

03_yogesh_Layout 1 5/1/2014 3:23 PM Page 46



अब इतना बिकाऊ नहीं है। और जब एक से अधिक ख़रीददार हों, तो बैंक की दौलत तो उनमें बँटनी ही है। इस दृष्टि से मुझे लगता है पहली बार आम आदमी पार्टी ने अपनी दिशा बदली है और दिल्ली के चुनावों की रणनीति में उसकी एक झलक देखने को मिली है।

*क्या आप भारत में चुनाव का समाजशास्त्र विकसित करने के लिए कोई अकादमीय एजेण्डा प्रस्तावित करना चाहेंगे?*

अंत में मैं यही कहना चाहूँगा कि हमें चुनाव के समाज-वैज्ञानिक अध्ययन की बात करनी चाहिए न कि उसके समाजशास्त्र की। इस विद्या में समाजशास्त्री और राजनीतिशास्त्री दोनों की ही भूमिका रही है। ठोस फ़ील्डवर्क और मूल्य-निरपेक्ष विश्लेषण के आधार पर ही चुनाव का यह विज्ञान विकसित हो सकता है। विगत वर्षों में जो इसका बाज़ारीकरण हुआ है इससे अवश्य ही समाज-विज्ञानों की उपादेयता प्रभावित हुई है और समाज-विज्ञान का प्रयुक्त-विज्ञान वाला पक्ष उजागर हुआ है। किंतु इन शोधों के आधार पर सम्बोधों को परिभाषित करना एवं सिद्धांत-निर्माण के लिए अवधारणाओं का वस्तुपरक परीक्षण करना अभी शेष है। इस काम में सी.एस.डी.एस. ही नेतृत्व प्रदान कर सकता है।